आफ़ताब-ए-मौसिक़ी : उस्ताद फ़ैयाज़ हुसैन खां

अशोक दामोदर रानडे

(मूल प्रसिद्धी - छायानट, अंक ५६, संपा. केशवचंद्र वर्मा, जनवरी-मार्च १९९१)

उस्ताद फ़ैयाज़ हुसैन खान का जन्म आगरा में ८ फरवरी १८८६ पर हुआ। उनका बचपन पारम्परिक संगीतकारों के बीच बीता। उन्होंने अपनी तालीम मुख्य रूप से अपने नाना उस्ताद गुलाम अब्बास और ताऊ-दादा कल्लन खाँ से प्राप्त की। दोनों ही आगरा-घराने के प्रतिष्ठित गायक थे। बड़ौदा रियासत में राज-गायक थे। उन्हें मैसूर के महाराजा की ओर से सन १९११ में 'आफताब-ए-मौसीकी' के ख़िताब से नवाज़ा गया। उन्हें संगीत के विविध प्रकारो के गायन में ख्याति प्राप्त थी। वे वाकई में महफिलों के बादशाह थे। उनका निधन ५ नवम्बर १९५० को हुआ।

सन १९०८ से उस्ताद फ़ैयाज़ हुसैन खां 'आफ़ताब-ए-मौसीकी' नाम से पहचाने जाते थे। संगीतकारों की कीर्ति आमतौर से अतिशयोक्ति लिये हुये होती है, किन्तु उस्ताद के बारे में ऐसा नहीं था। उस्ताद एक ऐसे अनोखे कलाकार थे, जिन्होंने श्रोताओं से आदर ही नहीं, प्रेम भी पाया, क्योंकि उनके गाने में एक उल्लास और आनन्द था।

संगीतकारों में जो बहिर्मुख कलाकार होते हैं, क्या उन्हीं के संगीत में उल्लास पाया जाता है ? शायद हाँ, क्योंकि उस्ताद का गायन निःसन्देह बहिर्वर्ती था। भारत में संगीत की महफ़िल एक सांगीतिक, सांस्कृतिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में श्रोताओं को शामिल कर लेने का अपना महत्त्व होता है। उस्ताद जानबूझकर श्रोताओं को सम्मिलित करने के लिये ही अपना संगीत 'श्रोतृ-सम्मुख' रखते थे। उनके लिये श्रोताओं की संख्या महत्त्व की नहीं थी। महत्त्व के थे, सुनने वाले दक्ष कान!

पंडित जवाहर लाल नेहरू की तरह उस्ताद को मानव-मेदनी प्रिय थी। दोनों ही अपने-अपने फ़न में आशुक्रिया का सहारा लेते थे। श्रोताओं के सहभाग के जरिये उस्ताद के संगीत में हमेशा एक रवानी रहती थी, और श्रोताओं पर विजय पाने के लिये उस्ताद को एक पकड़ भी हासिल होती थी। और यूँ, उन्हें महफ़िल का बादशाह जो कहा जाता था, सो, सौ फ़ीसदी सत्य सिद्ध होता था।

श्रोताओं से खाँ साहब ने इस तरह का तीव्र और गुणात्मक जुड़ाव कैसे हासिल किया ? पहली बात यह, की उन्होंने अपनी गरिमायुक्त और ढाली आवाज़ का प्रक्षेपण बेहिचक किया। यहां 'बेहिचक' शब्द से एक विशेष तात्पर्य है। खाँ साहब के युग में तथा तत्कालीन गायकों में, ऊँचे स्वर में गाना प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। ध्वनिवर्धन की कोई व्यवस्था न होने के कारण शायद ऐसा हआ हो। किन्तु यह भी सच है कि ढाली आवाज में गाना कुछ हेय समझा जाता था। कलाकार के सांगीतिक व्यक्तित्व में यदि कोई कमजोरी या कमी हो, तभी नीचे के स्वर में गाना जायज़ था। इस पृष्ठभूमि पर नीची पट्टी में गाने का खाँ साहब का निश्चय एक साहसपूर्ण कदम मानना चाहिए।

इसका अर्थ यह नहीं है कि खाँ साहब महज वीरोचित चेष्टा करने में विश्वास रखते थे। उन्होंने ढाली आवाज का उपयोग गरिमा-परिमाण को काम में लाने के लिये किया। (वैसे ही, जैसे उनके समकालीन कलाकार तारता-परिमाण का उपयोग करते थे।) इसलिये खाँ साहब के गायन में संगीतात्मक विरोध-संबंध का सौन्दर्य-शास्त्रीय तत्त्व पाया जाता है। चाहे उनकी की हुई नोम्-तोम् हो (राग ललित और दरबारी), राग बरवा के उनके गाए अन्तरे हों या उनकी भैरवी हो - उनके गायन में फोर्टीस्सीमो-पियानीस्सीमो (Fortissimo-Pianissimo) परिणाम बारबार झलकता है। जैसा कि अवगत है, तारता की तुलना में मानवीय आवाज़ का गरिमा-परिमाण कम गुंजाइश रखता है। इस हिसाब से देखा जाए तो खाँ साहब द्वारा किया गया निश्चय एक सौन्दर्यशास्त्रीय साहस था। अपनी

आवाज़ की तारता की मर्यादित परिसीमा पहचान कर उन्होंने ढाली पट्टी की, परन्तु अधिक ताकत से प्रक्षेपित होने वाली आवाज़ को स्वीकारा, और ज्यादा तारता, किन्तु कष्टसाध्य आवाज़ प्रक्षेषण को टाला। आवाज का इस तरह का उपयोग खाँ साहब के गायन के लिये सही साबित हुआ। आखिरी श्रोता तक उनकी आवाज़ सुनाई देती थी। इतना ही नहीं, यह आवाज श्रोताओं के कान भर देती थी। उनके गायन में सबसे पहले जिस बात की प्रतीति होती थी, वह थी, उनका शक्ति तत्त्व। जैसा पहले बताया गया है, उनका गायन बहिर्दर्शी था और इसीलिये शक्ति का उपयोग भी उचित था। खाँ साहब के लिये महत्त्व की बात थी, श्रोताओं पर प्रभाव डाल पाना, उन पर विजय प्राप्त करना।

ढाली आवाज़ और आवाज़ का केन्द्र - इन दोनों बातों के साथ, उनके गायन में 'ऐ' इन संयुक्त स्वर-वर्ण का अक्ष्यारोपण भी पाया जाता था। हिन्दुस्तानी गायक, आवाज़ के लगाव में जिस 'आ' स्वर-वर्ण का आग्रह रखते हैं, उससे 'ऐ' स्वर-वर्ण कम खुला है और इसीलिये आवाज़ के केन्द्र के लिये सहायक भी सिद्ध होता है। 'ऐ' स्वर-वर्ण का नियन्त्रण करना भी आसान है। ज़ाहिर है, इन सारी बातों में केवल संयोग नहीं था। खाँ साहब ने विचारपूर्वक यह निर्णय लिया था।

खाँ साहब के सांगीतिक तर्कशास्त्र की एक और कड़ी उनके घराने के ध्रुपद अंग में पाई जाती है। उस्ताद का ध्रुपद-धमार का गायन परम्परागत शैली के अनुसार ही था। किन्तु ध्यान से सुनने पर उनका धमार-गायन कुछ बेमज़ा सा लगता था। लेकिन उनका नोम्-तोम् का गायन बहुत सुन्दर होता था। राग दरबारी, रामकली और ललित में सिर्फ नोम्-तोम् करके उन्होंने रिकाडर्स ध्वनिमुद्रित किये थे। यह तथ्य इसका सुबूत है। तात्पर्य यह है, कि राग का स्वतन्त्र और कल्पक विस्तार करने का मौका उन्हें नोम्-तोम् में मिलता था। राग की भावना व्यक्त करने की सुविधा नोम्-तोम् में होने के कारण नोम्-तोम् (जो कि ध्रुपद-धमार गायकी का एक अविभाज्य अंग है) उन्हें पसन्द था। दूसरी बात यह, कि नोम्-तोम् का गायन उन्होंने ध्रपद-धमार के गायन से बंधा हआ नहीं रखा था। ख्याल के पहले वे नोम्-तोम् करते थे। इतना ही नहीं, बल्कि भैरवी, दादरा के पहले भी वे नोम्-तोम् की योजना करते थे। इससे साबित होता है कि नोम्-तोम् की विस्तृत सम्भावनाएँ उन्होंने पहचान ली थीं। राग के भाव, छटा या आवाहकता को प्रस्तुत करना और राग की स्वराकृतियों को बगैर ताल-बन्धन के रेखांकित करना उनके नोम्-तोम् की विशेषताएँ थीं। घराने का रिवाज़ और ध्रपद-धमार-परम्परा के प्रति शास्त्रीय ईमान उनको धमार गाने के लिए प्रेरित करता तो था, किन्तु उनकी कला-प्रवत्ति उन्हें बाध्य करती थी कि वे नोम्-तोम् को अलग रखें। उनके गायन में नोम्-तोम् का होना, चाहे संगीत-प्रकार कोई भी हो, इसी बात की ओर प्रकाश ड़ालता है।

नोम्-तोम् के लिए खाँ साहब का आग्रह और 'ऐ' स्वर-ध्वनि का लगाव यह दोनों बातें जुडी हुई हैं। नोम्-तोम् में निरर्थक अक्षरों की मदद से राग का सम्पूर्ण विस्तार किया जाता है। दूसरे शब्दों में, सिर्फ 'आ'कार से राग-विस्तार (जैसे कि आलाप में किया जाता है) करने के बजाए नोम्-तोम् में 'आ'कार को खण्डित करके गायन होता है। इसलिए नोम्-तोम् में अखण्डता की, या अविरत-ता की अनुभूति नहीं होती। उसके बजाए एक के बाद एक, यूँ आने वाले एकक की स्वन-गति का अनुभव मिलता है। इस तरह विराम-चिन्हांकित गायन 'ऐ' स्वरवर्ण की ('आ' स्वर-वर्ण के स्थान पर) योजना करने से संभव होता है।

अपना गायन प्रक्षेपित करने की खाँ साहब की तकनीक के साथ, श्रोताओं को बाँध लेने की उनकी शक्ति जुड़ी हुई है। किन्तु गायन प्रक्षेपित करने की तकनीक के अलावा उनके पास और भी कई शस्त्र थे। उदाहरणार्थ, अनेक संगीत-प्रकार वे बराबर की आसानी से पेश कर सकते थे उदाहरणार्थ, अन्य विविध संगीत प्रकार भी वे उतने ही प्रभावी ढंग से प्रस्तुत कर पाते थे। ध्रुपद, धमार, ख्याल, तराना, ठुमरी और दादरा वे सहजता से गा सकते थे। इसीलिए उन्हें चौमुखा गवैया कहा जाता था। चौमुख का मतलब चतुर्भुज है। जिस तरह ब्रह्मदेव चारों दिशाओं में देख सकते हैं, उसी तरह खाँ साहब की नज़र संगीत के चारों आयामों को देख सकती थी। उनका रागों का संचय भी विस्तृत था। दरबारी, यमन, केदार, बसन्त, तोड़ी, ललित, जौनपुरी जैसे प्रचलित राग तो खैर वे गाते ही थे,

साथ में परज, नट-बिहाग, गारा कानड़ा, सुहाग, झंकार जैसे अप्रचलित राग भी वे प्रभुत्व के साथ पेश करते थे। अप्रचलित राग जानते हुए भी प्रचलित राग गाने का उनका रवैया यही सिद्ध करता है कि श्रोताओं को विश्वास में लेना उन्हें अच्छा लगता था। जब गवैयों की महफ़िल जमती थी तो वे अप्रचलित राग गाते थे और उस समय पता चलता था कि अप्रचलित रागों की बारीकियाँ वे कितनी गहराई से जानते थे। इसलिए ज्यादा महत्त्व का यह होगा कि प्रचलित रागों में वे श्रोताओं को कैसे बांध लेते थे? अब हम यह देखेंगे।

प्रचलित राग गाते समय श्रोताओं पर असर डालने की उनके पास कई युक्तियाँ थीं। एक तो वे चीज के शब्दों का उच्चार खास तरीके से करते थे। उनका शब्दोच्चार भाषण या संभाषण जैसा होता था। भाषण में आवाज़ के चढ़ाव-उतार (स्वरों का चढ़ाव-उतार नहीं) से शब्द का अर्थ, सुननेवालों तक पहुंचाया जाता है। खाँ साहब अपनी आवाज की गरिमा का भी अच्छा इस्तेमाल करते थे। गरिमा को काम में लाने से आवाज नाजुक, मोटी, मुलायम या जोरदार हो सकती है। इसी का उपयोग हम शब्दों के उच्चार में करते हैं। अपने गायन में शब्दों का अर्थ सुनने वालों को समझाने के लिये खाँ साहब गाते हुए अपनी आवाज़ के गरिमा-परिमाण को बदलते थे। असल में, भाषण में निहित नाट्य-गुणों को संगीत-संदर्भ प्रदान करने से इस तरह का परिणाम साध्य होता है। खाँ साहब ने यही किया। उदाहरणार्थ, ललित के उनके द्रुत ख्याल में (तरपत हूं जैसे जल बिन मीन) 'सैयाँ' शब्द के बाद किए हुए आवाज़ के चढ़ाव-उतार, नाट्य और संगीत के गुण प्रस्तुत करते हैं। ठुमरी-दादरा के गायन में उन्होंने इसी तकनीक को प्रयुक्त किया है (भैरवी, दादरा में 'वहीं जाओ' इन शब्दों का उच्चार सुनने लायक है)। इसी तत्त्व को लेकर खाँ साहब के गायन में 'अरे' या 'हाँ' जैसे शब्द बार-बार प्रयुक्त होते थे। रोजमर्रा के भाषण या संभाषण में इन शब्दों द्वारा सुनने वालों के साथ अपनेपन का नाता जोड़ा जाता है, उसी को संगीत में लाना संगीतकार की कलात्मक क्षमता की निशानी है। खाँ साहब के प्रस्तुतीकरण द्वारा ही उनका गायन अधिक मूर्त हो उठता था। सुनने वालों का हाथ पकड़कर मानों वे उन्हें संगीत में दीक्षित करते थे।

जिन युक्तियों का निर्देश किया गया है, उनका असल में, ज्यादातर उपयोग ठुमरी-गायक प्रचुर मात्रा में करते हैं। ख्याल-संगीत में इनका उपयोग करना साहसिक न भी हो, असाधारण अवश्य था। एक संगीत-प्रकार की विशिष्ट बातें दूसरे संगीत-प्रकार में ले आना जायज़ है। नोम्-तोम् में भाषण से स्वन को लाना भी एक अलग प्रकार का करिश्मा था। नोम्-तोम् के अर्थहीन अक्षरों का खाँ साहब इस तरह से उच्चारण करते थे मानो उनमें कोई अर्थ छिपा हो। इन अक्षरों को शब्दों की तरह गाने में, अर्थ का बन्धन न होते हुए भी, अर्थ की छाया को सूचित करने में खाँ साहब की मौलिकता दिखाई देती है। इस तरह अर्थ को सूचित करने से संगीतकार और श्रोता दोनों को एक आशय मिलता है और अर्थ से एक प्रकार से छुटकारा भी मिलता है। ठुमरी में अगर शब्दों का भावनात्मक उच्चार होता है तो खाँ साहब के उच्चार को उससे अलग, यानि भावात्मक कहा जा सकता है। कई बार कवियों ने अपनी शैली में बोली-भाषा की विशेषताएँ लाकर गर्व महसूस किया है। उस्ताद भी इसी प्रकार का दावा कर सकते थे। संगीत में भाषण का लहजा ले आना, किन्तु सांगीतिकता को भी क़ायम रखना-यह उनकी विशेषता थी।

इस परिस्थिति में बोल-आलाप को प्रधानता देना भी तर्कसम्मत था। एक प्रकार की सांगीतिक शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया यहाँ देखी जा सकती है। 'आ'कार में कम आलापी रखना उनके लिए संभव था। क्योंकि ख्याल के पहले नोम्-तोम् में राग की पूरी प्रस्तुति हो जाती थी। ख्याल के गायन में फिर खाँ साहब बोल-लय (शब्दों का बिलम्बित और लयबद्ध उच्चारण), बोल-तान और तान को इसी क्रम में उपयोग में ला सकते थे। बड़े ख्याल में तानों को न गाते हुए, वे द्रुत ख्याल में उनका उपयोग अधिक करते थे (उनका द्रुत ख्याल ज्यादा द्रुत कभी नहीं होता था)। निष्कर्ष यह, कि उनके पूरे गायन में विविध संगीत-प्रकार और उनसे जुड़ी हुई कण्ठ-संगीत की तकनीक का प्रतिरोपण और अन्तरमिश्रण होता था। ख्याल-गायन में वे ध्रुपद तकनीक का प्रयोजन करते थे और उसके लिए वे अपनी आवाज के ढालेपन का खास फ़ायदा उठाते थे। दूसरी ओर, ख्याल-गायन में वे भाषा-स्वन को लाते थे और उसे नाट्यात्मकता प्रदान करते थे। अन्त में विविध बोल-तान और तान से उनका गायन सजता था।

यहाँ पर उनकी बोल-तान और तानों का विवेचन करना उचित होगा। आज भी यह बातें आगरा घराने की विशेषताएँ मानी जाती हैं। इस घराने में ध्रुपद-धमार की तालीम नियमित अभ्यासक्रम में शामिल की जाती है। बोल-तान और तानों में इसी वजह से विविधता और पेंच-निर्माण हो सकते हैं। बोल-तान और तान में यह अंग किस तरह से दिखाई देता है, इसके कुछ उदाहरण गौर करने लायक हैं :

१. गायन में बहुत सारी बोल-तानें 'पट' या गुन का इस्तेमाल करने से होती हैं। दुप्पट, तिप्पट / दुगुन,तिगुन इत्यादि करने से मूल बोल का प्राथमिक परिवेश बदल जाता है।

२. बोल-तान में बहुत-सी तिहाइयाँ उपयोग में लाई जाती हैं।

३. गमकों का लगाव बार-बार किया जाता है।

४. ताल की अलग-अलग मात्राओं से तान आरम्भ करने से, और यूँ उठान का बिन्दु बदलने में पूरा तालावर्त्तन अलग आकृति का बन जाता है। यह भी एक ध्रुपद-विशेषता है।

५. उस्ताद का सम्पूर्ण सांगीतिक व्यवहार ध्रुपद-धमार जैसा था। क्योंकि गायन में हृष्टपुष्टता और संगीत के चलन में भारीपन रखना उनकी वृत्ति थी। उस्ताद की तानें अपनी गति से प्रभावित नहीं करती थीं, किन्तु नियन्त्रित गरिमा में रखने से गति की यह कमी सुनने वालों को महसूस नहीं होती थी।

प्रचलित ताल, विलम्बित मध्य लय रखने के पीछे जो तर्क था, वह अब तक किये गये विश्लेषण से स्पष्ट हो चुका होगा। लय विलम्बित रखने से ताल के बिन्दु में अन्तर बढ़ जाता है और बोल-तानों में बोल का खेल करना मुश्किल होता है।

इन सब तकनीकी गुणों के अलावा मंच पर खाँ साहब का व्यक्तित्व अपनी उन्मुक्तता से प्रभावित रहता था। मुद्राभिनय, हस्ताभिनय वगैरह को ठीक समय पर प्रयुक्त करने में उन्हें महारथ हासिल थी। शायद इसी वजह से अपने पंचमेलीय श्रोताओं से तात्कालिक नाता जोड़ना उनके लिए सहज सम्भव था। संगीत-निर्माण का हर क्षण उनके लिए आनन्ददायी था और वे चाहते थे कि सभी इसमें उनके साथ शामिल हो सकें। कभी-कभी ठुमरी-गायक की तरह उनका बदन भी गायन में शामिल हो जाता था। आखिर जो बात गायक श्रोताओं तक पहुंचाना चाहते हैं, वह महज़ गायन के जरिए ही तो नहीं पहुंचाई जा सकती। उस्ताद फ़ैयाज़ हुसैन खाँ संगीत से अपना जुड़ाव, संगीत-निर्माण में खुद उन्हें मिलता आनन्द और संगीत के अशरीरी साधनों पर अपना प्रभुत्व - इन सभी बातों का इज़हार करना चाहते थे। शायद उनकी कला का रहस्य भी यही है!